॥ श्रीहरिः ॥

1479

साधनके दो प्रधान सूत्र

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

1479

साधनके दो प्रधान सूत्र

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरि: ॥

नम्र निवेदन

प्राय: सत्संगकी मार्मिक बातोंको गहराईसे न समझनेके कारण साधकोंके भीतर संशय रहता है कि जब हमें कुछ भी नहीं चाहिये, तो फिर साधन-भजन क्यों करें? जब कोई अपना नहीं है, तो फिर दूसरोंकी सेवा क्यों करें? आदि-आदि। वास्तवमें ये शंकाएँ शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही उत्पन्न होती हैं। इस विषयको प्रस्तुत पुस्तक 'साधनके दो प्रधान सूत्र' में बहुत सरल तथा सुन्दर रीतिसे समझाया गया है। सभी साधकोंके लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। साधकोंसे नम्र निवेदन है कि इस पुस्तकको मनोयोगपूर्वक पढ़ें और सच्ची बातको स्वीकार करके लाभ उठायें।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

॥ श्रीहरिः ॥

१. साधनके दो प्रधान सूत्र

चौरासी लाख योनियोंमें भटकते हुए जीवको परमपिता परमात्मा अपनी अहैतुकी कृपासे बीचमें ही मानवशरीर प्रदान करते हैं। इस मानवशरीरको प्राप्त करके जीव सुगमतासे अपना कल्याण कर सकता है। इसलिये गोस्वामीजी महाराजने कहा है—

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

(मानस, उत्तर० ४३। ४)

भगवान्‌ने तो इसलिये मानवशरीर प्रदान किया कि जीव संसार-बन्धनसे छूटकर सदाके लिये कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जाय। परन्तु दुःखकी बात है कि मनुष्य अपने उद्देश्यसे विमुख होकर भोग तथा संग्रहमें लग गया! कभी कोई मनुष्य संतकृपा अथवा भगवत्कृपासे साधनमें लग भी जाता है तो उसमें दृढ़ निश्चयकी कमी रहती है। दृढ़ निश्चयके बिना उसका जीवन साधनमय नहीं बन पाता। जीवन

साधनमय न बननेके कारण वह कोरी बातें सीखकर वक्ता अथवा लेखक तो बन सकता है, पर परमशान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। जीवनको साधनमय बनानेके लिये यह आवश्यक है कि साधक इन दो बातोंको दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर ले—

(१) मेरा कुछ भी नहीं है, मेरेको कुछ भी नहीं चाहिये और मेरा किसीसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

(२) केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं।

पहली बात संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करानेवाली है और दूसरी बात भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाली है। पहली बातको दृढ़तासे स्वीकार करनेसे 'मुक्ति' और दूसरी बातको दृढ़तासे स्वीकार करनेसे 'भक्ति' की सिद्धि हो जाती है। अतः विवेकप्रधान साधक पहली बातको स्वीकार करे। परिणाममें दोनों ही प्रकारके साधक कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो जायँगे। उनका मनुष्यजन्म सफल हो जायगा। इन बातोंको सीखना नहीं है, प्रत्युत स्वयंसे स्वीकार करना है। सीखी हुई बातकी विस्मृति हो सकती है, परन्तु स्वीकार की गयी बातकी विस्मृति नहीं होती।

अब यह शंका पैदा होती है कि जब मेरा कुछ भी नहीं है तो फिर माता-पिताकी सेवा क्यों करें? वस्तुओंकी रक्षा क्यों करें? जब मेरेको कुछ नहीं चाहिये तो फिर अन्न-जलकी क्या जरूरत है? जब मेरा किसीसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है तो फिर दूसरेकी सहायता क्यों करें? सेवा क्यों करें? जब केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं तो फिर पतिकी सेवा क्यों करें? इन सब शंकाओंका मूल कारण यह है कि साधक उपर्युक्त दोनों बातोंको शरीरके साथ एक होकर स्वीकार करता है। शरीरके साथ मैं-मेरेका सम्बन्ध (तादात्म्य) ही बन्धनका मूल कारण है। इसलिये हमारे स्वरूपके विषयमें गोस्वामीजीने कहा है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७।१)

अब इसपर विचार करते हैं—

'ईस्वर अंस जीव'—जीव स्वयं अंश है और परमात्मा अंशी हैं। भगवान्‌ने भी कहा है— '**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। जैसे भगवान् सत्-चित्-

आनन्दस्वरूप हैं, ऐसे ही जीव भी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हैं। जैसे सभी बेटोंका माँपर समान अधिकार होता है, ऐसे ही परमपिता परमात्मापर मानवमात्रका समान अधिकार है। जैसे कोई राजकुमार 'मैं राजाका बेटा हूँ'—इस बातको भूलकर भीख माँगता है तो राजाको आश्चर्यके साथ-साथ बड़ा दुःख होता है, ऐसे ही सांसारिक भोग और संग्रहमें लगे हुए मनुष्यको देखकर भगवान्‌को बड़ा दुःख होता है कि यह मेरेको प्राप्त न करके अपना पतन कर रहा है—'**मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्**' (गीता १६।२०)।

साधकमें इस बातका गर्व (स्वाभिमान) होना चाहिये कि भगवान् मेरे अपने हैं, मैं भगवान्‌का हूँ—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(मानस, अरण्य० ११।११)

हम त्रिलोकीके स्वामी परमपिता परमात्माकी सन्तान हैं, फिर हम तुच्छ नाशवान् संसारकी ओर हाथ क्यों फैलायें? जो संसारके सम्मुख होता है, उसको संसार अपना दास बना लेता है। परन्तु जो भगवान्‌के

सम्मुख होता है, स्वयं भगवान् उसके दास बन जाते हैं—‘**अहं भक्तपराधीनः**’ (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३); ‘*मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि*’! ऐसे परमसुहृद् प्रभुको छोड़कर संसारकी चाहना कितनी मूर्खताकी बात है!

‘**अबिनासी**’—परमात्मा अविनाशी हैं; अतः उनका अंश जीव भी अविनाशी है—‘**अविनाशि तु तद्विद्धि**’ (गीता २। १७)। परन्तु स्वयं अविनाशी होकर भी नाशवान् शरीर-संसारके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(गीता १५। ७)

‘इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा स्वयं मेरा ही सनातन अंश है; परन्तु वह प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षित करता है अर्थात् अपना मान लेता है।’

प्रकृतिका अंश इतना ईमानदार है कि सदा प्रकृतिमें ही स्थित रहता है—‘**प्रकृतिस्थानि**’। परन्तु जीव परमात्माका अंश होते हुए भी प्रकृतिके अंश

(शरीर)-के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है! इस माने हुए सम्बन्धके कारण वह जन्म-मरणके चक्रमें पड़ा रहता है।

'**चेतन**'—परमात्माका अंश होनेके कारण जीव चित्स्वरूप है। मात्र जड़ वस्तु मिलने और बिछुड़नेवाली है। जैसे अमावास्याकी रातका सूर्यके साथ मिलन असम्भव है, ऐसे ही जड़ वस्तुका चेतनके साथ सम्बन्ध असम्भव है। अतः चेतनका जड़से सम्बन्ध कृत्रिम और माना हुआ है, वास्तविक नहीं है।

'**अमल**'—परमात्माका अंश होनेसे स्वयं निर्मल, निर्दोष है। इसलिये गीतामें भगवान् कहते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(१३।३१)

'हे कुन्तीनन्दन! यह पुरुष स्वयं अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता (कर्त्ता बनता) है और न लिप्त होता (भोक्ता बनता) है।'

काम-क्रोधादि जितने भी दोष हैं, वे सब-के-सब आगन्तुक हैं; परन्तु शरीरसे तादात्म्य होनेके

कारण अज्ञानी मनुष्य मान लेता है कि मैं कामी हूँ, मैं क्रोधी हूँ आदि। कोई भी दोष नित्य-निरन्तर नहीं रहता, आता-जाता है—'**आगमापायिनोऽनित्याः**' (गीता २। १४); परन्तु स्वरूप सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। समस्त दोष जड़-विभागमें ही हैं, चेतन-विभागमें नहीं। इसलिये स्वयंतक कोई दोष पहुँच सकता ही नहीं। स्वयं नित्य-निरन्तर निर्दोष रहता है।

'**सहज सुख रासी**'—संसार दुःखरूप है—'**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते**' (गीता ५। २२); '**दुःखालयमशाश्वतम्**' (गीता ८। १५)। इस दुःखरूप संसारके साथ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध मानकर ही जीव दुःखी होता है। वास्तवमें जीव परमात्माका अंश होनेसे सुखकी खान है। इसलिये शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही साधकको अपने सहज, अक्षय, आत्यन्तिक सुखका अनुभव हो जाता है—'**स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते**' (गीता ५। २१); '**सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्**' (गीता ६। २१)। जैसे घरमें पारस होते हुए भी अज्ञानी मनुष्य द्वार-द्वार जाकर भीख माँगता है, ऐसे ही स्वयं सुखकी खान होते हुए भी मनुष्य सुख पानेकी लालसामें

सांसारिक भोग तथा संग्रहमें लगा रहता है और परिणाममें महान् दुःख पाता है—‘**परिणामे विषमिव**’ (गीता १८।३८)।

सम्पूर्ण दुःखोंका मूल कारण है—नाशवान् सुखकी कामना। कामनाको छोड़े बिना कोई भी सुख नहीं पा सकता—‘**स शान्तिमाप्नोति न कामकामी**’ (गीता २।७०)। सांसारिक सुखकी कामना अभ्याससे नहीं मिटती, प्रत्युत पारमार्थिक सुख मिलनेसे मिटती है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह नामजप, भजन-कीर्तन, भक्त-चरित्रके पठन आदिमें लग जाय। जब उसको नामजप आदिमें रस आने लगेगा, तब संसारका रस स्वतः छूटने लगेगा। जैसे, बचपनमें कंकड़-पत्थरोंमें रस मिलता था, पर जब रुपयोंमें रस आने लगता है, तब कंकड़-पत्थरोंका रस स्वतः छूट जाता है।

दूसरोंकी सेवा करना और भगवान्‌को अपना मानना—इन दो कार्योंके लिये ही यह मानवशरीर मिला है। मनुष्यके सिवाय अन्य किसी भी योनिमें इन दो कार्योंको करनेकी योग्यता और सामर्थ्य नहीं है।

भगवान् भी मनुष्यसे यह आशा रखते हैं कि यह दूसरोंकी सेवा करे और मेरेको अपना माने—मेरेसे प्रेम करे! जैसे, माँ अपने बेटेसे पूछती है कि बता, तू किसका बेटा है? तो बालक कहता है कि 'तेरा बेटा हूँ'। यह सुनते ही माँ राजी हो जाती है। इसी तरह भगवान् भी अपने बनाये हुए मनुष्यके द्वारा यह सुनना चाहते हैं कि वह मेरेको अपना कहे, मेरेसे प्रेम करे।

भगवान्में अपनेपनके सिवाय प्रेम-प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है। 'केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं और मैं केवल भगवान्का ही हूँ'—ऐसा स्वीकार करनेसे भगवान् कृपा करके अपना साध्यप्रेम प्रदान करते हैं, जो प्रतिक्षण वर्धमान है। इस साध्यप्रेमकी जागृतिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है।

साधक दो प्रकारके होते हैं—मस्तिष्क (विवेक)-प्रधान और हृदय (भाव)-प्रधान। विवेकप्रधान साधक विवेकपूर्वक संसारका त्याग करता है और भावप्रधान साधक संसारको भगवत्स्वरूप देखता है। कारण कि सब कुछ भगवान् ही हैं—यह विवेकका विषय न होकर भावका विषय है। जबतक विवेक रहता है, तबतक सत् और असत्

दोनोंकी सत्ता रहती है। इसलिये विवेकमार्गी साधक सत्तत्त्व (परमात्मा)-को असत् (संसार)-से अलग करके देखता है। जबतक साधककी दृष्टिमें भगवान् और संसार—दोनों अलग-अलग रहते हैं, तबतक उसके जीवनमें अखण्ड आनन्द नहीं आता, प्रत्युत कभी तो आनन्द आता है, कभी नीरसता आती है। कभी तो अपने साधनमें बड़ी उन्नति दीखती है, कभी साधनमें कोई लाभ नहीं दीखता। कारण यह है कि विवेकमार्गमें त्याज्य वस्तु (असत्)-की सूक्ष्म सत्ता बहुत दूरतक साथ रहती है। परन्तु भावप्रधान साधककी दृष्टिमें सत्-असत्, परा-अपराके सहित सब कुछ एक भगवान् ही होते हैं—'**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९); '**अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्**' (गीता ७।५)। अतः उसकी दृष्टिमें त्याज्य वस्तु कोई होती ही नहीं। अतः भावप्रधान साधनमें संसार नहीं रहता, केवल भगवान् ही रहते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)। ऐसे साधकको अखण्ड आनन्दके साथ-साथ भगवत्कृपासे अनन्त आनन्द (साध्य-प्रेम)-का अनुभव हो जाता है।

२. साधकोंके लिये

एक बार सरल हृदयसे दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर लें कि-

सर्वकालमें मैं स्वयं
केवल भगवान्‌का ही अंश हूँ,
और किसीका भी अंश नहीं हूँ।

तथा

सर्वकालमें
केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं,
और कोई भी मेरा अपना नहीं है।

कारण यह है कि

शरीर-संसार कभी किसीके साथ रहते ही नहीं;
क्योंकि इनकी सत्ता विद्यमान नहीं है-
'नासतो विद्यते भावः' (गीता २। १६)

और

परमात्मा कभी किसीका साथ छोड़ते ही नहीं;
क्योंकि उनकी सत्ता नित्य विद्यमान है-
'नाभावो विद्यते सतः' (गीता २। १६)

स्पष्टीकरण

एक बार—'मैं भगवान्‌का हूँ तथा भगवान् मेरे हैं'—ऐसा माननेके लिये कोई अभ्यास नहीं करना है, माला नहीं फेरनी है, प्रत्युत एक बार स्वीकारमात्र करना है। स्वीकारमात्र करनेमें कोई अभ्यास या क्रिया नहीं है। स्वीकृति एक ही बार होती है और सदाके लिये होती है। कारण कि पहलेसे ही हम भगवान्‌के हैं तथा भगवान् हमारे हैं। उदाहरणार्थ, विवाह होनेपर कन्या एक बार पतिको अपना मान लेती है। फिर उसे इसको दृढ़ करनेके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता।

सरल हृदयसे—सच्ची स्वीकृति सरल हृदयसे ही होती है। भगवान् भावग्राही हैं। भगवान्‌का स्वभाव सरल है और सरल स्वभाववाले भक्त ही भगवान्‌को प्रिय हैं—

निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः।

(श्रीमद्भा० १०। ६०। १४)

'सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं'

(मानस, बाल० २३७। १)

'मोहि कपट छल छिद्र न भावा'

(मानस, सुन्दर० ४४। ३)

उदाहरणार्थ, छोटा बच्चा सरल हृदयसे माँको अपना मानता है। माँको अपना माननेके लिये उसे किसी प्रमाणकी जरूरत नहीं पड़ती। उससे कोई पूछे कि यह तेरी माँ क्यों है तो वह यही कहता है कि बस, मेरी माँ है।

हृदयप्रधान (भावप्रधान) भक्त ही भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। मस्तिष्कप्रधान (विवेकप्रधान) साधक ऐसा नहीं कर सकते। कारण कि विवेकमें स्वीकार करनेयोग्य 'सत्' और अस्वीकार करनेयोग्य 'असत्'—दोनों रहते हैं। अतः असत्‌की सत्ता बहुत दूरतक साथ रहती है।

दृढ़तापूर्वक—शिथिल स्वभाववाला मनुष्य एक ही बार भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध स्वीकार नहीं

कर सकता। वह बार-बार भगवान्‌के साथ सम्बन्ध स्वीकार करता है और बार-बार उसे छोड़कर संसारको अपना मानता है। इस प्रकार बार-बार विचार करने और उसे छोड़नेकी आदतके कारण संसारसे माना हुआ सम्बन्ध नहीं छूटता। अतः साधकको चाहिये कि वह एक बार जो स्वीकार कर ले, उसपर सदा दृढ़ रहे। उदाहरणार्थ, स्त्री पतिको इतनी दृढ़तासे अपना मान लेती है कि पतिके मरनेके बाद भी उसका यह सम्बन्ध छूटता नहीं।

हरदोई जिलेके इकनोरा गाँवमें एक लड़की अपने ननिहालमें रहती थी। पति दूसरे गाँवमें बीमार था, वह मर गया। उस लड़कीको पतिके मरनेका समाचार मिला तो उसने अपने मामासे कहा कि मैं सती होऊँगी। मामाने ऐसा करनेके लिये मना किया तो उसने दीपक जलाया और उसपर अपनी अँगुली रखी। उसकी अँगुली मोमबत्तीकी तरह जलने लगी! उसने मामासे कहा कि आप सती होनेकी आज्ञा नहीं देंगे तो यह सारा घर भस्म हो जायगा। मामाने कहा कि ठीक है, तेरी

जैसी मरजी! उसने जलती हुई अँगुलीको एक दीवारपर रगड़कर बुझाया और घरसे बाहर जाकर एक पीपलवृक्षके नीचे खड़ी हो गयी। उसने मामासे आग देनेको कहा तो मामाने मना कर दिया। तब उसने हाथ जोड़कर सूर्य भगवान्‌से आग देनेकी प्रार्थना की और वहाँ खड़ी-खड़ी अपने-आप जल गयी। साधकका भाव भी इसी तरह दृढ़ होना चाहिये।

स्वीकार कर लें—हमें भगवान्‌के साथ कोई नया सम्बन्ध नहीं जोड़ना है। भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध अनादिकालसे है। हम सदासे ही भगवान्‌के हैं और सदासे ही भगवान् हमारे हैं। संसारके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण हमें इस (भगवान्‌के) सम्बन्धकी विस्मृति हो गयी है। अतः हमें केवल भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध स्वीकार करना है। यह स्वीकृति स्वयंसे होती है, बुद्धिसे नहीं। स्वयंसे जोड़े गये सम्बन्धकी विस्मृति नहीं होती। उदाहरणार्थ, विवाह होनेपर स्त्री पतिको अपना मान लेती है तो फिर स्वप्नमें भी उसे इस सम्बन्धकी विस्मृति नहीं होती।

शिष्य गुरुको स्वीकार कर लेता है तो फिर स्वप्नमें भी नहीं भूलता कि मैं अमुक गुरुका शिष्य हूँ।

सर्वकालमें मैं स्वयं केवल भगवान्‌का ही अंश हूँ—भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (१५। ७) 'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा मेरा ही सनातन अंश है।' अतः जीवमात्र भगवान्‌का ही अंश है, भगवान्‌का ही अंश था और भगवान्‌का ही अंश रहेगा। कोई भी जीव किसी भी कालमें भगवान्‌से अलग नहीं हो सकता। सर्वसमर्थ भगवान्‌में भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वे जीवको अपनेसे अलग कर सकें।

और किसीका भी अंश नहीं हूँ—शरीरमें तो माता और पिता—दोनोंके अंश रहते हैं; परन्तु स्वयं केवल भगवान्‌का ही अंश है (**मम एव अंशः**), इसमें प्रकृतिके अंशका मिश्रण नहीं है। जीव ही प्रकृतिके अंश (शरीर-संसार)-को पकड़कर जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ जाता है।

सर्वकालमें केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं—सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंमें लेशमात्र भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो सदा हमारे साथ रह सके और हम उसके साथ रह सकें। सभी वस्तुएँ और व्यक्ति मिलने तथा बिछुड़नेवाले हैं। परन्तु भगवान्‌से जीवमात्रका स्वाभाविक सम्बन्ध है। भगवान्‌से अलग कोई हुआ ही नहीं, अलग है ही नहीं, अलग होगा ही नहीं, अलग हो सकता ही नहीं। इसलिये मीराबाईने दृढ़तासे स्वीकार कर लिया कि '***मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।***'

और कोई भी मेरा अपना नहीं है—माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई आदि कोई भी मेरा अपना नहीं है। वे केवल सेवा करनेके लिये ही अपने हैं। यदि वास्तवमें वे अपने होते तो कभी अपनेसे बिछुड़ते नहीं। भगवान्‌के सिवाय जो कुछ भी है, वह सब मिला हुआ है और बिछुड़ जायगा; अतः वह अपना नहीं है।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (२। १६) 'असत्‌का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव

विद्यमान नहीं है।' तात्पर्य है कि संसारको कितना ही स्वीकार करें, उसकी सत्ता है ही नहीं। वह सदा अप्राप्त है, प्राप्त हो सकता ही नहीं। परन्तु भगवान्‌को कितना ही अस्वीकार करें, उनकी सत्ता सदा विद्यमान है। वे सबको सदा प्राप्त हैं, अप्राप्त हो सकते ही नहीं। अतः साधकको उसीसे सम्बन्ध-विच्छेद करना है, जिससे कभी सम्बन्ध हुआ ही नहीं और उसीसे सम्बन्ध जोड़ना है, जिससे कभी सम्बन्ध छूटा ही नहीं। जिसे छोड़ना है, वह छूटा हुआ ही है और जिसे पाना है, वह पाया हुआ ही है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

३. जानना और मानना

आँख खोलकर देख लो (जान लो)—

सर्वकालमें सारे संसारमें मेरा अपना करके कोई भी प्राणी नहीं है, कुछ भी पदार्थ नहीं है तथा मेरा किसीसे किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि मेरे साथ सदा रहनेवाला कोई भी प्राणी नहीं और कुछ भी पदार्थ नहीं है। अतः मुझे किसीसे कभी कुछ भी नहीं चाहिये।

आँख मीचकर सुन लो (मान लो)—

सर्वकालमें सारा संसार केवल एक भगवान् ही है, और कुछ भी नहीं है।

—यह सर्वोत्तम साधन है, परन्तु यह बात बहुतोंको पता नहीं है। कइयोंको पता होते हुए भी अनुभवमें नहीं है; क्योंकि यह पुरुषार्थसाध्य नहीं, कृपासाध्य है। भगवत्-कृपा तथा संतकृपासे यह सम्भव है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

४. पाँच प्रधान साधनामृत

निम्न साधनामृतोंको

एक बार सरल हृदयसे दृढ़तापूर्वक

स्वीकार कर लें कि—

पंचामृत

१-मैं (स्वयं) सर्वकालमें भगवान्‌का ही अंश हूँ।

२-मैं सर्वकालमें अविनाशी हूँ।

३-मैं सर्वकालमें चेतन हूँ।

४-मैं सर्वकालमें अमल (निर्दोष) हूँ।

५-मैं सर्वकालमें सहज सुखराशि हूँ।

चतुष्टयामृत

१-भगवान्‌ने कभी मेरा साथ छोड़ा ही नहीं।

२-भगवान् कभी मेरा साथ छोड़ते ही नहीं।

३-भगवान् कभी मेरा साथ छोड़ेंगे ही नहीं।

४-भगवान् कभी मेरा साथ छोड़ सकते ही नहीं।

त्रयामृत

सब भगवान्‌के ही हैं; इसलिये—

१-भगवान्‌के नाते मैं किसीको भी बुरा नहीं समझूँगा।

२-भगवान्‌के नाते मैं किसीका भी बुरा नहीं चाहूँगा।

३-भगवान्‌के नाते मैं किसीका भी बुरा नहीं करूँगा।

द्वयामृत

१-मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ।

२-केवल भगवान् ही मेरे अपने हैं।

एकामृत

१-सम्पूर्ण संसार सर्वकालमें एक भगवान् ही हैं, उनके सिवाय और कुछ भी नहीं है—'वासुदेवः सर्वम्'।

—उपर्युक्त पाँचोंमेंसे एक भी साधनामृतका पान (पालन) करनेसे मानवजीवन सफल हो जायगा।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

५. ज्ञान और भक्ति

एक सत्तामात्र ही

रूपसे विद्यमान है—
यह ज्ञान है।

वह

मेरा अपना है—
यह भक्ति है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

६. सावधान

शरीर और संसार—

कभी किसीके साथ रहे ही नहीं।

कभी किसीके साथ रहते ही नहीं।

कभी किसीके साथ रहेंगे ही नहीं।

कभी किसीके साथ रह सकते ही नहीं।

याद रखिये

परमात्माने—

कभी किसीका साथ छोड़ा ही नहीं।

कभी किसीका साथ छोड़ते ही नहीं।

कभी किसीका साथ छोड़ेंगे ही नहीं।

कभी किसीका साथ छोड़ सकते ही नहीं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

७. काम-नाशका सुगम उपाय

भगवत्प्रेमकी आवश्यकता ही मानवमात्रकी वास्तविक आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति आवश्यक है। जब इस प्रेमकी जागृति होगी, तभी भूलसे उत्पन्न हुए कामका नाश होगा। ❄

जबतक सांसारिक क्रिया-पदार्थमें रस आता है, तबतक '<u>काम</u>' है।

भगवान्‌के नाम, रूप, लीला और भजनमें रस आनेसे सांसारिक रस (काम) नष्ट हो जाता है और अविनाशी रस (परमप्रेम) प्रकट हो जाता है। इसीमें <u>मानवजीवनकी पूर्णता है—</u>

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

❄ साधकको अपनेमें जितनी कमी दीखती है, उतना ही पराश्रय और परिश्रम है।

भगवदाश्रय और विश्रामके आते ही मानवजीवन पूर्ण हो जाता है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

८. साधक-पञ्चामृत

वंदे नंदनंदनं देवं

एक बार सरल हृदयसे दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर लें कि—

(१) मैं (स्वयं) सर्वकालमें भगवान्‌का ही अंश हूँ।

(२) मैं सर्वकालमें अविनाशी हूँ।

(३) मैं सर्वकालमें चेतन हूँ।

(४) मैं सर्वकालमें अमल (निर्दोष) हूँ।

(५) मैं सर्वकालमें सहज सुखराशि हूँ।

॥ श्रीहरिः ॥

१. 'नहीं'

नासतो विद्यते भावः

१०. 'है'

नाभावो विद्यते सतः

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

११. सच्ची और पक्की बात

यदि आपको दुःख, अशान्ति, आफत चाहिये तो **शरीर-संसारसे** सम्बन्ध जोड़ लो, उनको अपना मान लो

और

यदि सुख, शान्ति, आनन्द, मस्ती चाहिये तो **परमात्मासे** सम्बन्ध जोड़ लो, उनको अपना मान लो।

चुनाव आपके हाथमें है!